अमन के सेतु पर अमन की बस : तमसो मा

प्रफुल्ल कोलख्यान

> "... विचारणीय यह है कि कैसे लोग लड़ते और हारते हैं, और जब उनकी हार के बावजूद वह मिल जाता है जिसके लिए वे लड़े थे तो पाते हैं कि यह वह तो नहीं है जिसके लिए वे लड़े थे, और फिर उसके लिए दूसरे लोग दूसरे नाम से लड़ते हैं (विलियम मॉरिस, ए ड्रीम ऑफ जॉन बाल, 1887)।"[1]

भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' को आलोचना सांप्रदायिकता से जोड़कर देखती रही है। देखना भी चाहिए। पाठ के प्राथमिक स्तर पर यह ठीक भी लगता है। लेकिन आलोचना को रचना के प्रथम पाठ पर ही क्यों हर बार अटक जाना चाहिए? असल में सांप्रदायिकता एक ऐसी घातक वैयक्तिक मनोवृत्ति और सामाजिक प्रवृत्ति रही है जिसने दक्षिण एशिया के जन-जीवन को बिल्कुल तहस-नहस करके रख दिया है। सांप्रदायिकता के सवाल के सामने आते ही हम इतने संवेदनशील हो जाते हैं कि विचार प्रवाह और पद्धति में तेज घुर्णियाँ बनने लग जाती है। इन घुर्णियों से विचार को निकाल ले जाना बड़ा मुश्किल होता है– हम एक ऐसे आत्मविरोध और अंतर्विरोध में फँस जाते हैं कि कई बार 'सांप्रदायिकता के हल' को भी 'सांप्रदायिक नजरिये से' ही ढूढ़ने लगते हैं। यहीं 'सांप्रदायिकता' सफल होती रही है, इसी रास्ते से घुसकर भूत सरसो में अपना डेरा डालता रहा है। 'तमस' के पाठ में सांप्रदायिकता पर रुक जाना वैसी ही चूक होगी जैसी चूक 'मुराद अली' को 'सांप्रदायिकता फैलानेवाला' और 'नत्थू' को 'सांप्रदायिकता के फैलाव में योगदान करनेवाला' मान लेने से होगी। असल में 'सांप्रदायिकता' भी ऐसी 'चेरी और बदमाश-बेचारी' है जो किसी और के इशारे पर काम

करती है। किसके इशारे पर? क्या, उसी के इशारे पर जिसके हाथ में इस सभ्यता का सबसे सफेद परचम लहराता हुआ दिखाया जाता है!

आज एक भिन्न प्रकार के सभ्यता-संक्रमण की प्रक्रिया जारी है। सभ्यता-संक्रमण की प्रक्रिया कभी अंतर्विरोध मुक्त नहीं होती है। संक्रमण की इस प्रक्रिया में सभ्यता की पुरानी जटिलताओं के अंतर्विरोध नये रूपों में सामने आ रही है। 'आज का हमारा समय पुनर्विचार का समय है। सीखे हुए को भूलने और भूलकर फिर नये सिरे से सीखने का समय है।'[2] जिस पर 'पुनर्विचार' और जिसका 'पुनर्निर्माण' करना हो उसके 'पुनर्आविष्कार' की भी जरूरत तो होती ही है। रचना और पाठ का यथार्थ से जितना गहरा नाता होता है, उससे कम गहरा नाता कल्पनाशीलता से नहीं होता है। हालाँकि 'यथार्थ' और 'कल्पना' के अंतर्स्संबंधों को लेकर विवाद रहा है। जीवन में और इसीलिए साहित्य में भी, 'यथार्थ' से 'कल्पना' तक की यात्रा होती है, या 'कल्पना' से शुरू कर हम 'यथार्थ' तक पहुँचते हैं? मानव-उद्यम के विभिन्न निकायों में जो होता हो, साहित्य में क्या होता है? साहित्य में सच तो यह है कि 'कल्पना और यथार्थ' की अंतरंग यात्रा बहुत तेजी से, बारबार और बराबर होती रहती है। इस यात्रा के बारबार और बराबर होते रहने के कारण साहित्य 'संघर्ष और आस्वाद' के अंतर्गुंफन[3] से महत्त्वपूर्ण हो जाता है और ऐसे सवाल अप्रासंगिक हो जाते हैं। 'कल्पना दो प्रकार की होती है– विधायक और ग्राहक। कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक।'[4] यह सच है कि 'रचना' में पाठ के स्तर पर दुबारा 'विधायक कल्पना' के सक्रिय होने का बहुत सीधा[5] अवसर नहीं होता है लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि इसके साथ यह भी सच है कि 'पाठ' के अंतरंग को पाने के लिए 'ग्राहक कल्पना' के रूप बदलकर बारबार 'विधायक कल्पना' की तरह के व्यवहार की अनिवार्य जरूरत हुआ करती है; इसकी पुष्टि रचना-प्रक्रिया के समानांतर पाठ-प्रक्रिया के विश्लेषण-संश्लेषण से हो सकती है। इसी तरह, 'ग्राहक कल्पना' बारबार 'पाठ के पुनर्आविष्कार' के लिए सक्रिय हुआ करती है। 'भीष्म साहनी उन थोड़े-से कथाकारों में हैं जिनके माध्यम से हम अपने समय की नब्ज पर भी हाथ रख सकते हैं और उनके समय की छाती पर कान लगाकर उनके समय के दिल की धड़कनें भी साफ-साफ सुन सकते हैं। क्योंकि, एक कथाकार के रूप में भीष्म साहनी 'वास्तविकता को गल्प में बदलने' की कला जानते हैं और संभवत: यह जानते हैं कि पाठक भी अंतत:, कई बार जान बूझकर और कई बार बिना जाने भी 'गल्प को वास्तविकता में बदलने' की प्रक्रिया अपनाता है। रचना प्रक्रिया और पाठ प्रक्रिया के बीच 'कोडिंग' और 'डिकोडिंग' रचना-संघर्ष और रचना-आस्वाद की सामाजिक प्रक्रिया है। कहना न होगा कि आलोचना 'गल्प को वास्तविकता में बदलने' की प्रक्रिया को जीवन के बहुआयामी परिप्रेक्ष्य से जोड़ती है।'[6]

का समय 'तमस' के रचनाकाल से बदला हुआ है। शुरुआत कुछ काल्पनिक सवालों से करना चाहिए– सवाल यह कि 'तमस' की रचना अगर 'विभाजन' के समय या उसके तुरत बाद हुई होती

तो क्या उसका वही स्वरूप होता? 'तमस' को उसके रचनाकाल में पढ़ने में 'समाज के संघर्ष' और 'पाठक के आस्वाद' का वही स्तर होता जो आज है? ये सवाल काल्पनिक हैं, इनके जवाब भी काल्पनिक ही होंगे। इसलिए कि काल्पनिक सवालों के जवाबों से हासिल निष्कर्ष भी काल्पनिक और अलग-अलग होते हैं, लेकिन काल्पनिक होने से इनका महत्त्व कम नहीं हो जाता है। इस संदर्भ में एक घटना का जिक्र प्रासंगिक है। पश्चिम बंगाल के हुगली जिले के भद्रेश्वर में एक सड़क और एक सामुदायिक हॉल को प्रेमचंद के नाम से जोड़ा गया है। इस इलाके में, दम तोड़ती जूट मिलों के मजदूरों की आबादी फैली हुई है– हिंदू-मुसलमान, दलित-सवर्ण सभी हैं। उस अवसर पर इन लोगों के बीच प्रेमचंद की कहानी 'कफन' की नाट्य प्रसतुति 'आस्था' नाम की संस्था कर रही थी। नाटक चल रहा था, बुधिया की मौत की खबर लेकर माधो घीसू को नींद से जगाने के लिए झकझोरता है। नाट्य में सब ठीक-ठाक ही था, लेकिन इस करुण दृश्य पर दर्शक भभाकर हँस पड़े। रंगकर्मी महेश जायसवाल ने मुझ से पूछा कि 'करुण' में 'हास्य' कहाँ से आया? जवाब हमारे पास नहीं है। लेकिन सावल तो है कि करुण में हास्य का सन्निवेश क्या 'कफन' के 'पाठ' और 'जनता की चित्तवृत्ति' में में किसी भयंकर बदलाव की सूचना है? आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लक्षित किया, 'जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति में पविर्त्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्त्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही ''साहित्य का इतिहास'' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।' जाहिर है कि 'चित्तवृत्ति में परिवर्त्तन' हो जाने से 'संचित प्रतिबिंब' में भी परिवर्त्तन हो जाना लाजिमी ही होता है।

'तमस' के कथा-काल और रचना-काल को समझना होगा। इसमें कुछ बातों का खास खयाल रखना जरूरी है। 'तमस' का प्रकाशन 1973 में हुआ। इसकी कहानी 1945-46 की है। इसके पाठ का पुनर्आविष्कार, अर्थात इसके गल्प को वास्तविकता में बदलने का काम यहाँ 2005 (इस लेख का समय) में करने का प्रयास किया जा रहा है। अर्थात्, 'तमस' अपने प्रकाशन से लगभग तीस साल पहले की घटना को गल्प में बदलता है और यह आलोचना 'तमस' के प्रकाशन के तीस साल बाद उस गल्प को घटना में बदलने की कोशिश कर रही है। इस प्रक्रिया में 1945-46, 1973 और 2005 के मिजाज को समझना जरूरी है। पहले 1945-46 के बारे में इतिहास का वक्तव्य, '16 अगस्त 1946 से अभूतपूर्व स्तर पर होनेवाले सांप्रदायिक दंगों ने भरतीय परिदृश्य को पूरी तरह बदल दिया था। दंगों का आरंभ 16-19 अगस्त को कलकत्ता से हुआ जो 1 सितंबर को बंबई को प्रभावित करते हुए पूर्वी बंगाल के नोआखाली, (10 अक्तूबर), बिहार (25 अक्तूबर), संयुक्त प्रांत के गढ़मुक्तेश्वर (नवंबर) तक फैल गए और मार्च 1947 से इन्होंने सारे पंजाब को अपनी लपेट में ले लिया। ... ब्रिटिश स्रोतों से ही लिए गए दो उदाहरण यह दर्शाने के लिए पर्याप्त हैं कि इसमें यदि सरकार की मिलीभगत नहीं भी थी तो भी उसकी निष्क्रियता अवश्य थी। ... मार्च 1947 में अमृतसर के

दो मुख्य बाजार नष्ट कर दिए गए और ''पुलिस ने एक भी गोली नहीं चलाई।'' पेंडरेल मून का यह कहना बड़ा ही सटीक है कि यह उसी शहर में हुआ, जहाँ जालियाँवाला बाग का नरसंहार हुआ था (मून, पृ.78, 80-81)। नेहरू की अंतरिम सरकार इस बढ़ते हुए सांप्रदायिक नरसंहार को असहाय होकर देखती रही।'[7]

यहाँ देखने की बात यह है कि वह कौन-सा 'भारतीय परिदृश्य' था जिसको सांप्रदायिक दंगों ने पूरी तरह बदल दिया था। साथ ही यह भी कि क्या सांप्रदायिक दंगों का उद्देश्य कहीं इस भारतीय परिदृश्य को पूरी तरह बदलना ही तो नहीं था? वह 'भारतीय परिदृश्य' था– राजनति में 'वामपंथ' का बढ़ता हुआ प्रभाव, पूरे भारत में आजादी के आंदोलन के साथ जनता की आर्थिक माँगों का गहन होता हुआ जुड़ाव और 'वर्ण' के 'वर्ग' में बदलने की प्रक्रिया का प्रारंभ। अंगरेज हुकूमत इस बात को ठीक ढंग से समझ पा रही थी कि आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा की पूँजीवादी निर्मिति में 'कम्युनिज्म और समाजवाद' की बढ़ती हुई चेतना किस तरह से सूराख कर रही है। आजादी के आंदोलन की 'मुख्यधारा' भी इस बात को ठीक ढंग से समझ पा रही थी कि जनता में बढ़ता हुआ वर्गबोध आजादी के आंदोलन के दौरान और आजादी के बाद उनके लिए किस तरह की राजनीतिक परेशानियाँ खड़ा करेगा। आजादी के आंदोलन की 'मुख्यधारा' एक तरफ प्रत्यक्षत: ब्रिटिश-वर्चस्व से लड़ने के लिए 'कम्युनिज्म और समाजवाद' का साथ ले रही थी और दूसरी तरफ 'कम्युनिज्म और समाजवाद' के बढ़ते हुए प्रभाव से संघर्ष के लिए प्रच्छन्न रूप से ब्रिटिश-वर्चस्व का भी साथ ले रही थी। 'मुख्यधारा' की राजनीति के चरित्र में दोहरापन और अंतर्घात की प्रवृत्ति के होने के ऐतिहासिक कारण यहाँ समझ में आते हैं।

इतिहास बताता है कि '12 अप्रैल 1934 को बिड़ला ने ठाकुरदास को सलाह दी : ''मैं चाहता हूँ कि आप भूलाभाई (देसाई) से संपर्क रखें। यदि स्वराज पार्टी को सफल होना है तो उन्हें नए चुनाव लड़ने के लिए धन की आवश्यकता पड़ेगी और मेरी सलाह है कि बंबई वह धन तब तक न दे जब तक वह इस बात के प्रति संतुष्ट न हो जाए कि सही लोगों को भेजा जा रहा है।'' 3 अगस्त 1934 को बिड़ला ने पुन: लिखा : ''वल्लभ भाई, राजाजी और राजेंद्र बाबू सभी कम्युनिज्म और समाजवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। अत: यह आवश्यक है कि हम में से कुछ जो स्वस्थ पूँजीवाद के प्रतिनिधि हैं, यथासंभव गाँधीजी की सहायता करें और एक साझे लक्ष्य को लेकर कार्य करें'' (ठाकुरदास पेपर्स, फा.नं. 123.42[vi]।'[8] इस सावधानी के बाद भी 'कम्युनिज्म और समाजवाद' के बढ़ते हुए प्रभाव को रोक पाना संभव नहीं हो रहा था। इतिहास की इस विडंबना को समझना होगा कि काँग्रेस प्रत्यक्षत: जिस ब्रिटिश उपनिवेश से लड़ रही थी उस ब्रिटिश उपनिवेश के शुभचिंतकों को काँग्रेसी नेताओं की लोकप्रियता में होती हुई कमी अंदर-ही-अंदर बहुत परेशान कर रही थी। इस परेशानी को समझने के लिए याद कर लेना जरूरी है कि 'वी.पी. मेनन एक वरिष्ठ सरकारी अधिकारी

थे। .... उन्होंने 1947 के आरंभ में हड़तालों की लहर के समय वायसरॉय को रिपोर्ट दी थी कि ''काँग्रेसी नेताओं की लोकप्रियता कम होती जा रही है ... काँग्रेस में गंभीर आंतरिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं और वामपक्ष का भारी भय उत्पन्न हो गया है, और यह कि श्रमिक अशांति का बेहद खतरा है।'' काँग्रेस जो आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा बनाती थी उसकी क्षमता और सार्थकता को 'कम्युनिस्टों' को दबाने के संदर्भ में बड़ी शिद्दत से महसूस की जा रही थी। काँग्रेस को उत्तरदायित्व सौपने की बेचैनी के पीछे यही समझ थी कि 'यदि काँग्रेसी उत्तरदायित्व ले लें तो उससे उन्हें महसूस होगा कि उच्छृँखल तत्त्वों पर कड़ा नियंत्रण रखना आवश्यक है, वे कम्युनिस्टों को दबाएँगे और स्वयं अपने वामपंथ पर नियंत्रण रखेंगे। साथ ही मैं उन्हें प्रशासन के कार्य में इतना व्यस्त रखना चाहता हूँ कि उन्हें राजनीति के लिए समय ही नहीं मिले (भारत सचिव को वेवेल का पत्र, 31 जुलाई 1946; मैंसर्ग, खंड 8, पृ.154)।'[9] गुप्तचर विभाग भी श्रमिकों की 'खतरनाक होती जा रही स्थिति' पर नजर रख रहा था और '9 अगस्त को गुप्तचर विभाग ने भी यही बात कही : ''...श्रमिकों की स्थिति अधिकाधिक खतरनाक होती जा रही है ... जब तक केंद्र में उत्तरदायी भारतीय सरकार नहीं बिठाई जाती, कुछ किया नहीं जा सकता ... मेरा विश्वास है कि यदि एक उत्तरदायी सरकार स्थापित की जा सके तो वह श्रमिकों से अधिक निर्णायक ढंग से निपट सकेगी जोकि वर्त्तमान स्थिति में संभव नहीं है'' (होम पोलिटिकल (1)12/7/1946)'।[10]

ब्रिटिश उपनिवेश के सारे सूचना स्रोतों से जो बात छन-छनकर आ रही थी कि उनका आशय यही था कि 'आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा में व्यवहृत राष्ट्रवाद' का इस्तेमाल 'आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा में तेजी से जुड़ रहे वर्गबोध' की हत्या के लिए जरूरी है। इस बात को समझना होगा कि 'सत्ता का राष्ट्रवाद अक्सर कुत्सित राष्ट्रवाद का ही नमूना होता है जो जनता और राष्ट्र के व्यवच्छेदन से जन्म लेता है। यह राष्ट्रवाद कुत्सित इसलिए होता है कि यह राजा और प्रजा या शोषक और शोषितों के हितों के अंतर को भावुकता के अंतर्लेप से आच्छादित करते हुए व्यक्ति और समुदाय को अतार्किकता के वैचारिक दलदल में ले जाकर उनके हितों की हत्या करता है। राजा या शोषक के हितों को संपोषित करते हुए साधारणजन के स्वाभाविक देशप्रेम का दुरुपयोग करता है।... कुत्सित राष्ट्रवाद पूँजीपति वर्ग के आर्थिक विकास और देश के आर्थिक विकास के अंतर को ओझल ही नहीं कर देता है, बल्कि पूँजीपति वर्ग के आर्थिक विकास की वेदी पर देश के आर्थिक विकास को न्यौछावर भी कर देता है। ... हम समझ सकते हैं कि राष्ट्र के साथ व्यक्ति और समुदाय के संबंधों को स्पष्ट रूप से सुपरिभाषित किए बिना फैलाया गया कुत्सित राष्ट्रवाद न सिर्फ भ्रामक होता है, बल्कि आर्थिक शोषण के साथ ही लोगों के देशप्रेम की निश्छल भावनाओं का भी शोषण करता है। इस तरह, अंतत: लोगों को देश से उनके स्वाभाविक अपनत्व और जुड़ाव को बाधित करता हुआ उन्हें 'कोऊ नृप होहिं, हमहिं का हानी' के भावबोध से उत्पन्न अलगाव में डालकर देश को गुलामी के जाल में धकेल देता है। इस ऐतिहासिक कटु स्वाद का अनुभव हम से अधिक और किसे है ! इस तरह से हम देख सकते हैं कि राष्ट्रवाद का बाना पहनकर किस प्रकार उपनिवेशवाद, चाहे वह आंतरिक हो या बाहरी ही क्यों न हो, हमारे जीवन में

प्रवेश करता है।'[11] 'सच्चा राष्ट्रवाद' तो जनता और राष्ट्र के साझे हित में ही सन्निहित होता है। यह साझा हित जनता की मानवता को उपलब्ध आर्थिक और सांस्कृतिक अवसरों के वर्गीय आधार पर ही तैयार होता है। भारत में यह आधार तैयार नहीं था, इसलिए 'सच्चे राष्ट्रवाद' के लिए जगह कम और 'कुत्सित राष्ट्रवाद' के लिए जगह पर्याप्त थी। 'सच्चे राष्ट्रवाद' की संभावनाओं को नष्ट करने के लिए 'कुत्सित राष्ट्रवाद' के हो रहे इस्तेमाल से रवींद्रनाथ ठाकुर जैसे लोग बाखबर थे, इसलिए वे कह सकते थे कि, 'भारत ने कभी भी सही अर्थों में राष्ट्रीयता हासिल नहीं की। मुझे बचपन से ही सिखाया गया कि राष्ट्र सर्वोच्च है, ईश्वर और मानवता से भी बढ़कर। आज मैं इस धारणा से मुक्त हो चुका हूँ और दृढ़ता से मानता हूँ कि मेरे देशवासी देश को मानवता से भी बड़ा बतानेवाली शिक्षा का विरोध करके ही सही अर्थों में अपने देश को हासिल कर पाएँगे।'[12] 'सच्चे राष्ट्रवाद' की संभावनाओं को नष्ट करने के लिए 'कुत्सित राष्ट्रवाद' के इस्तेमाल की ऐतिहासिक अभिप्रेरणाओं को ध्यान में रखा जा सके तो भारत में 'हिंदू राष्ट्रीयता' और 'मुस्लिम राष्ट्रीयता' जैसी 'द्विराष्ट्रीयता' की सिद्धांतिकी के प्रतिपादन को ठीक से समझ सकेंगे। कहा जा सकता है कि 'सांप्रदायिक दंगों' का गहन संबंध आजादी के आंदोलन की मुख्यधारा में विकासमान 'वर्गबोध' को तोड़ने अर्थात 'कम्युनिज्म और समाजवाद' के प्रभाव को रोकने तथा 'सच्चे राष्ट्रवाद' की संभावनाओं को नष्ट करने के लिए 'कुत्सित राष्ट्रवाद' के इस्तेमाल से है। हिंदू और मुसलमान को मध्यकाल से ही दो राष्ट्रों के रूप में अनिवार्यत: परस्पर-विरोधी इकाइयाँ मानना या हिंदू मुसलमान की पूर्ण मैत्री के किसी स्वर्णयुग के होने की बात करना दोनों ही 'कुत्सित राष्ट्रवाद' के लिए हितकारी था; क्योंकि ये दोनों ही परस्पर विरोधी दिखनेवाली मान्यताएँ ठोस वर्गीय आधार के विकास को अवरुद्ध कर 'हिंदू और मुसलमान' जैसे धर्मीय आधार को केंद्रीय रूप से प्रासंगिक बना रहे थे। पूँजीवाद के लिए यह स्थिति वैसी ही थी कि 'चित' आने पर वे जीतेंगे और 'पट' आने पर दुश्मन हारेगा ! इस प्रकार यह बिल्कुल साफ है कि वामपंथ के बढ़ते प्रभाव को रोकना 'ब्रिटिश उपनिवेश' और उसके विरोधी 'भारतीय राष्ट्रवाद' दोनों का ऐसा साझा उपक्रम था जिसके अंतर्गत 'सांप्रदायिक दंगों' का इस्तेमाल किया गया, हाँ कई बार बेमन से भी। इतिहास की विडंबना ही है कि 'ब्रिटिश उपनिवेश' 'भारतीय राष्ट्रवाद' को सत्ता की संस्कृति के अनुरूप शासकीय योग्यता अर्जित करने के लिए शिक्षित कर रहा था। 'कम्युनिज्म और समाजवाद' को भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की राजनीतिक 'मुख्यधारा' और 'ब्रिटिश-वर्चस्व' दोनों से संघर्ष करना पड़ रहा था। कहना न होगा कि इसी संघर्ष की राजनीतिक-आर्थिक-समाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया के गंभीर प्रसार एवं प्रभाव से वह भारतीय परिदृश्य बनता था जिसे पूरी तरह से बदल देना सांप्रदायिक दंगों का उद्देश्य था।

15 अगस्त 1947 को आजादी मिली। 14 अगस्त 1947 को संविधान सभा में भाषण करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि 'यह समय क्षुद्र एवं विध्वंसात्मक आलोचनाओं के लिए नहीं है, और न ही अपने मन में दुर्भाव रखने एवं दूसरों पर दोषारोपण करने के लिए है। हमें स्वतंत्र भारत का ऐसा भव्य प्रासाद निर्मित करना है, जहाँ उसकी सभी संतानें एक साथ रह

सकें।'[13] 'स्वतंत्र भारत' की संतानें उस 'भव्य प्रसाद' के निर्माण के राष्ट्रीय-स्वप्न में ऊभ-चूभ करती रही। 'मुख्यधारा के नेतृत्व' के द्वारा यह मानने के बाद भी कि 'हमने दृढ़तापूर्वक समाजवादी ढाँचेवाली समाज-व्यवस्था का लक्ष्य निर्धारित किया है। व्यक्तिगत तौर पर मेरी यह धारणा है कि संग्रहशील समाज जो पूँजीवाद की नींव है, वर्तमान युग के लिए फिट नहीं है। हमें आधुनिक युग की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए एक ऐसी उच्चतर व्यवस्था विकसित करनी होगी जिसमें प्रतिस्पर्द्धा की जगह सहकारिता की भावना प्रबल हो। हमने समाजवाद को इसलिए अपने लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है कि यह हमें उचित एवं लाभकारी प्रतीत होता है, बल्कि हमने इसे इसलिए स्वीकार किया है कि हमारी आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है।'[14] 'अन्य कोई उपाय नहीं है' ऐसा मानकर 'मुख्यधारा का नेतृत्व' चुप नहीं बैठ गया, बल्कि अन्य उपाय की तलाश में तत्परता से लगा रहा। इतिहास गवाह है कि 'समाजवादी ढाँचेवाली समाज-व्यवस्था' सिर्फ 'सदिच्छाओं' से स्थापित नहीं हुआ करती है। इसके लिए कठिन राजनीतिक संघर्ष और जोखिम उठाने के अदम्य साहस की जरूरत हुआ करती है। इधर जनता के मोहभंग का दौर शुरू हो गया। आजादी के बाद जनमी नई पीढ़ी उस स्वप्न को अपने मन में रचाने-बसाने के लिए कहीं से तैयार नहीं थी। 1967 में रघुवीर सहाय अपनी कविता में दर्ज कर रहे थे कि 'बीस वर्ष/ खो गये भरमे उपदेश में/ एक पूरी पीढ़ी जनमी पली पुसी क्लेश में/ बेगानी हो गयी अपने ही देश में'।[15] 1969 तक आते-आते मोहभंग की प्रक्रिया अपनी उठान पर पहुँच गई। व्यापक स्तर पर राष्ट्रीयकरण की ओर राज्य के बढ़ने से नई संभावनाएँ प्रकट हुई। इतिहास में जिस वामपंथ के बढ़ते हुए प्रभाव और काँग्रेस की घटती हुई लोकप्रियता की गहरी चिंताएँ दर्ज की गई थी उस वामपंथ का आत्मविभाजन हो चुका था। 'समाजवाद' के नाम पर बने दल अपने अनिवार्य बिखराव की ओर बढ़ रहे थे। भारत से विभाजित होकर अस्तित्व में आये पाकिस्तान में विभाजन की गहरी त्रासदी सक्रिय थी। कश्मीर मुद्दे पर तनाव बने हुए थे। भारत और पाकिस्तान के बीच कई प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न युद्ध हो चुके थे। 1972 में बांगला देश पाकिस्तान से अलग हो गया। भारत में भी दंगे रुके नहीं थे। विघटनकारी स्थितियाँ भयावह बन रही थी। इस भयावह दौर में 'तमस' की रचना हुई। 'तमस' ने 1945-46 की वास्तविकताओं को 'गल्प' में बदला तो पाठकों के पास यह अवसर आया कि इस 'गल्प' को अपने समक्ष उपस्थित 'वास्तविकताओं' का परिप्रेक्ष्य प्रदान कर सभ्यता में व्याप्त तमस को समझे, समझे ही नहीं बल्कि उजाला की ओर बढ़ने का साहस भी जुटाये।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा था, 'साहित्य में युग परिवर्त्तन' 'जनता की चित्तवृत्ति में बदलाव'[16] के साथ आता है। 'साहित्य में युग परिवर्त्तन' 'जीवन में युग पविर्त्तन' से जुड़ा हुआ होता है। जब 'जीवन में युग परिवर्त्तन' होता है, तो उससे साहित्य के अगले लेखन के मिजाज में ही फर्क नहीं पड़ता है, बल्कि पहले लिखे जा चुके साहित्य के 'अर्थ ग्रहण' में भी फर्क पड़ जाता है। इस फर्क के साथ जो साहित्य अर्थवान बना रहता है, उसे प्रासंगिक माना जाता है। जिसकी अर्थवत्ता पिछले युग के साथ ठहर जाती है, उसे ऐतिहासिक रचनाओं के

खाते में डाल दिया जाता है। भीष्म साहनी का उपन्यास 'तमस' की अर्थवत्ता आज पहले से कम नहीं हुई है, इसलिए एक प्रासंगिक रचना है। 'तमस' में यह बात उभर कर आती है कि एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में पाकिस्तान बने या न बने, लेकिन बसावट में भारी अंतर आना तय है।

'तमस' में इतिहास की परिस्थिति

''क्या बातें करते हो बाबूजी, अब यह ख्याल ही दिमाग से निकाल दो। अब हिंदुओं के मुहल्ले में न तो कोई मुसलमान रहेगा और न मुसलमानों के मुहल्ले में कोई हिंदू। इसे पत्थर की लकीर समझो। पाकिस्तान बने या न बने, अब मुहल्ले अलग-अलग होंगे, साफ बात है।''[17]

और 'कितने पाकिस्तान' में इतिहास पुरुष का जवाब,

'- जगह है ! इस्लाम में हर कुदरती ज़रूरत के लिए जगह है, लेकिन लेकिन जब मज़हब को सियासी फायदे के लिए नफ़रत में बदला जाता है, तो एक नहीं, तमाम पाकिस्तान पैदा होते हैं ! मेरी बच्ची ! तुम्हारी जिन्दगी को इस गलत विभाजन ने तोड़ दिया है, क्योंकि इन लोगों ने एक मज़हब के तहत एक कौम, एक मुल्क और एक तहज़ीब को तकसीम किया है !'[18]

आज 2005 में जब हम 'तमस' के पाठ के पुनर्आविष्कार की कोशिश कर रहे हैं तो हमारे लिए आजादी के देर बाद तक, बल्कि आज तक फैलते सांप्रदायिक दंगों, महात्मा गाँधी की हत्या, चीन के साथ सीमा विवाद, आपातकाल की घोषणा, 1984 में इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद हुए सिख संहार, 'प्रच्छन्न ब्राह्मणवाद' – जिसे अब 'हिंदुत्व' के नाम से अधिक जाना जाता है – की कोख से ऊपजे सांप्रदायिक और जातिवादी ध्रुवीकरण, बाबरी मस्जिद की शहादत तथा गुजरात में हुए मुस्लिम संहार के राजनीतिक औजार के रूप में भयंकर इस्तेमाल, संघ-परिवार के शासन में होने, फिर से वामपंथियों के सहयोग से काँग्रेस के सत्तारूढ़ बनने, 'उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण' के उपकरण के साथ 'नव-सम्राजयवाद' की वर्चस्वादी आकांक्षाओं के प्रसार एवं उसके वैश्विक प्रतिरोध के वातावरण में इतिहास-बोध में आये विचलनकारी बदलाव के परिप्रेक्ष्य से राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्वों की नव-शृँखलाओं को खोजने और सरियाने के मार्मिक महत्त्व को नजरअंदाज करना कठिन है। नजरअंदाज करने की कोशिश या तो धूर्त्ततापूर्ण है या फिर मूर्खतापूर्ण है। इस वातावरण में 'तमस के गल्प' को 'समाज की वास्तविकताओं' में डिकोड करना 'तमस' की साहित्यिक आलोचना का मुख्य सरोकार होना चाहिए। 'तमस' के पाठ के 'पुनर्आविष्कार' के लिए 'तमस' के 'गल्प' को 'वास्तविकता' में बदलने की आलोचकीय जवाबदेही के बढ़े हुए महत्त्व को इस संदर्भ में पूरी तत्परता से समझा जाना चाहिए। कहना न होगा कि साहित्य और समाज के संबंधों की प्रगाढ़ता के लिहाज से यह कितना जरूरी है।

‘तमस’ का एक प्रसंग

‘कोहली ने अचकन का पल्ला उठाया। नीचे से खादी के कुर्ते का अगला भाग ऊपर को उठाया। नीचे पीले रंग का आराज़बंद लटक रहा था। शंकर लपक कर आगे बढ़ गया और नाड़े को पकड़ लिया।

‘‘देख लीजिए साहिबान, नाड़ा रेशमी है। हाथ के कते सूत का नहीं है। मशीनी है, अकड़े का है। आप खुद छूकर देख सकते हैं।’’

‘‘तो फिर ? फिर क्या हुआ ?’’

‘‘काँग्रेस-सदस्य रेशमी नाड़ा पहने ? और आप उसे प्रादेशिक काँग्रेस का उम्मीदवार बनाकर भेजेंगे ? काँग्रस के कोई उसूल हैं या नहीं ?’’

स्क्रूटनी कमेटी के सदस्य एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। मजबूर होकर कोहली का नाम काटना पड़ा। उस दिन से शंकर मेहताजी को फूटी आँख नहीं सुहाता था।’[19]

‘काँग्रेस का कोई उसूल है कि नहीं ?’ – यह पूछने का रिवाज अब नहीं रहा। भीतर से कुछ और बाहर से कुछ यह उसकी चारित्रिक विशिष्टता है। काँग्रेस सांप्रदायिक नहीं है, लेकिन सत्ता के लिए प्रच्छन्न रूप से सांप्रदायिकता के किसी भी संस्करण का इस्तेमाल करने में, थोड़ा झिझकती भले हो, रुकती नहीं है। ‘उसूल’ की बात उठानेवाला काँग्रेस को आज भी फूटी आँख नहीं सुहाता है। स्वाभाविक है कि यह सवाल तब भी उठता था और आज भी उठता है कि काँग्रेस किसकी पार्टी है, किसकी जमात है। ‘तमस’ का एक प्रसंग देखा जा सकता है :

‘... जवाब मंडली की ओर से एक बड़ी उम्र के आदमी ने दिया : ‘‘काँग्रेस सबकी जमात है। हिंदुओं की, सिक्खों की, मुसलमानों की। आप अच्छी तरह जानते हैं महमूद साहिब, आप भी पहले हमारे साथ ही थे।’’

और उस वयोवृद्ध ने आगे बढ़कर रूमी टोपीवाले आदमी को बाँहों में भर लिया। मंडली में कुछ लोग हँसने लगे। रूमी टोपीवाले ने अपने को बाँहों से अलग करते हुए कहा ‘‘यह सब हिंदुओं की चालाकी है, बख्शीजी, हम सब जानते हैं। आप चाहें जो कहें, काँग्रेस हिंदुओं की जमात है और मुस्लिम लीग मुसलमानों की। काँग्रेस मुसलमानों की रहनुमाई नहीं कर सकती।’’

दोनों मंडलियाँ एक-दूसरी के सामने खड़ी थीं। लोग बतिया भी रहे थे और एक-दूसरे पर चिलला भी रहे थे।'[20]

आज कम्युनिस्ट पार्टी(यों) के समर्थन से भारत में सरकार चल रही है। जनता की बढ़ी हुई प्रत्याशाओं को समझने, अपनी भौगोलिक व्याप्ति को बढ़ाने और अपने बिखराव की ऐतिहासिकता से उबरने के आंतरिक संघर्ष के लिए वामपंथ अपने को तैयार कर रहा है। इतिहास के अनुभवों से सीखते हुए यह तैयारी इसलिए भी जरूरी है कि 'काँग्रेस के द्वार' पर वामपंथ के लिए हमेशा ताला लगा रहा है, इस ताला का लगा रहना तब भी हकीकत ही रहता है जब किन्हीं ऐतिहासिक मजबूरियों में वामपंथ के लिए काँग्रेस का दरवाजा खुला रहता है। कच्चे सैद्धांतिक आधार पर कम्युनिस्ट नहीं बना जा सकता। कम्युनिस्ट आंदोलन के संकट का एक रुख यह भी रहा है कि जब तक 'साथी का सैद्धांतिक आधार' थोड़ा पकता है तब तक राजनीति के व्यवहार की जमीन ही बदल जाती है। प्रसंग 'तमस' से :

'पार्टी-अफिस में झंडे-ही-झंडे थे, आदमी ले-देकर तीन बैठे थे। कम्यून में कुल आठ आदमी थे। इस समय पाँच ड्यूटी पर थे। पर एक बुरी खबर भी थी। एक मुसलमान कामरेड का विश्वास टूट चुका था और वह कम्यून छोड़कर जा रहा था। अपनी बात कहते-कहते उसके होठ काँप-काँप जाते थे और गुस्से से आग-बबूला हो रहा था :

''अँग्रेज की शरारत, अँग्रेज की शरारत इसमें अँग्रेज कहाँ से आ गया ! मस्जिद के सामने सुअर फेंकते हैं, मेरी आँखों के सामने तीन गरीब मुसलमानों का काटा है, हटाओ जी, सब बकवास है।''

देवदत्त बोखलाये कॉमरेड को इतना ही कह पाया, ''जल्दबाजी में कोई काम नहीं करो साथी, हम मध्यमवर्ग के लोग हैं, पुराने संस्कारों का हम पर गहरा प्रभाव है। मजदूर वर्ग के होते तो हिंदू-मुसलमान का सवाल तुम्हें परेशान नहीं करता'' पर साथी ने बुचका उठाया और कम्यून छोड़कर निकल गया।

''साथी का सैद्धांतिक आधार कच्चा है। जज्वात में बहकर कोई कम्युनिस्ट नहीं बनता, इसके लिए समाज विकास को समझना जरूरी है।''

'मीटिंग शुरू हुई।'

'फिर अंतिम आइटम सामने आया :

''सभी पार्टियों के नुमाइंदों की मीटिंग बुलाना !''

‘‘यह मीटिंग नहीं हो सकेगी’’, एक साथी बोला, ‘‘काँग्रेस के दफ्तर पर ताला चढ़ा है। लीग वालों से बात करो तो पाकिस्तान के नारे लगाने लगते हैं। वे हर बात में कहते हैं, पहले काँग्रेस वाले कबूल करें कि काँग्रेस हिंदुओं की जमात है, फिर हम उनके साथ बैठने के लिए तैयार हैं और इस वक्त तो अपने-अपने मुहल्लों से कोई बाहर ही नहीं निकल रहा। मीटिंग किसके साथ करोगे?’’[21]

इस या उस कारण से साथी का ‘बुचका उठाकर कम्यून छोड़कर निकल जाना’ जारी रहता है, जो निकलते नहीं हैं उनमें से अधिकतर शीघ्र ही अपना तेज खो देते हैं। सामजिक बनावट को मान दिये बिना उसे समझा नहीं जा सकता ओर समझे बिना उसे बदला नहीं जा सकता। ‘वर्ण’ को समझे बिना ‘वर्ग’ को बरतना भारतीय परिप्रेक्ष्य मुश्किल काम है, हिंदीभाषी संदर्भ में जहाँ न तो समाज-सुधार के दीर्घस्थाई आंदोलन हुए और न नवजागरण का कोई रूप ही अपना पैर जमा पाया वहाँ तो असंभव ही है। काँग्रेस किसकी जमात है, इस बात का स्थिर करने में वामपंथ की दिलचस्पी रही है। लेकिन वामपंथ अपने को मजदूरों की जमात मानते हुए भी कल तक यह महसूस नहीं कर पाता था कि वह जिन मजदूरों की जमात है वह अपनी पहचान को वर्ग से नहीं वर्ण से ही जोड़कर चल रहा है, तो इस व्यतिक्रम को तोड़ना भी उसके राजनीतिक दायित्वों में शामिल है। कुछ प्रसंग दूधनाथ सिंह के उपन्यास ‘आखिरी कलाम’ से :

‘‘समझौता... समझौता – यही इधर चलन में है। क्योंकि सिद्धांत और विचार यहाँ अल्पमत में हैं... दिखावटी हैं। बाँभन होना, ठाकुर होना, बनिया-कायथ होना – यह महत्त्वपूर्ण है। यहाँ तो आस्थाएँ ही दूसरे प्रकार की हैं। और वे प्रबलतम हैं, संस्कारगत हैं।... मुझे तो कभी-कभी लगता है कॉमरेड, कि इससे भी आगे उनका संबंध हमारी ‘जेनिटिक्स’ से स्थापित हो गया है।’’[22]

‘‘जनता गरीबी के बारे में नहीं, जाति के बारे में इंटरेस्टेड है कॉमरेड !’ उसने यह भी कहा कि जातिवाद का नंगा नाच भी एक तरह की सांप्रदायिकता है। ‘आप हँस रहे हैं, हँस लीजिए। हमें यह भी पता है कि आप लोग ‘गहन विचार-विमर्श’ के बाद इसे नकार देंगे और एक रणनीतिक निर्णय हम तक पहुँचा देंगे।’’[23]

‘‘पहले जो कॉमरेड्स थे, उनमें से बहुत सारे अब अपनी जातियों के मुर्द्धन्य नेता हैं। और फिर जाति के नेतृत्व के नाम पर दुनिया भर के लुच्चे-लफंगे, विचारहीन, अवसरवादी विधानसभाओं और संसद में आ बैठे हैं। और जनता इसी से खुश है कि चलो, भला आदमी न हुआ तो क्या, अपनी जाति का तो है। दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातंत्र जातिवादी सरगनाओं का अखाड़ा है और चाहे सर्वहारा हों या उच्चकोटि के वैज्ञानिक – सब उनके ज़रख़रीद गुलाम।’’[24]

औपनिवेशिक अवशेष और भ्रंश पर आर्थिक-सामाजिक विकास का ढाँचा खड़ा करने से प्रशासन के चरित्र में औपनिवेशिक मिजाज का बना रह जाना स्वाभाविक ही है। उपनिवेश का प्रशासन 'जनता के हित' से नहीं, कानूनों की माँग से नहीं बल्कि आका के हित से अपने को प्रतिबद्ध करता है। सामाजिक प्रगति को नहीं अपनी प्रोन्नति को सामने रखकर चलना उसकी प्राथमिकता होती है। उसका स्वभाव 'तमस' के रिचर्ड से गुणात्मक स्तर पर बहुत भिन्न नहीं होता है। उसकी दिलचस्पी जनता की एकता के सूत्रों में न होकर वैमनस्य के उलझावों को सुलझाने से अधिक उलझाने में होती है। प्रसंग 'तमस' से :

'लीजा ने आँखें ऊपर उठायीं ओर रिचर्ड के चेहरे की ओर देखने लगी।

''क्या गड़बड़ होगी? फिर जंग होगी?''

''नहीं, मगर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच तनातनी बढ़ रही है, शायद फसाद होंगे।''

''ये लोग आपस में लड़ेंगे? लंदन में तो तुम कहते थे ये लोग तुम्हारे खिलाफ लड़ रहे हैं।''

''हमारे ख़िलाफ भी लड़ रहे हैं और आपस में भी लड़ रहे हैं।''

''कैसी बातें कर रहे हो? क्या तुम फिर मजाक करने लगे?''

''धर्म के नाम पर आपस में लड़ते हैं, देश के नाम पर हमारे साथ लड़ते हैं'' रिचर्ड ने मुसकराकर कहा।

''बहुत चालाक नहीं बनो, रिचर्ड। मैं सब जानती हूँ। देश के नाम पर ये लोग तुम्हारे साथ लड़ते हैं और धर्म के नाम पर तुम इन्हें आपस में लड़ाते हो। क्यों, ठीक है ना?

''हम नहीं लड़ाते, लीजा, ये लोग खुद लड़ते हैं।''

''तुम इन्हें लड़ने से रोक भी तो सकते हो। आखिर हैं तो ये एक ही जाति के लोग।''

रिचर्ड को अपनी पत्नी का भोलापन प्यारा लगा। उसने झुककर लीजा का गाल चूम लिया। फिर बोला :

''डार्लिंग, हुकूमत करनेवाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पायी जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन-किन बातों में एक-दूसरे से अलग हैं।''

तभी खानसामा ट्रे उठाये चला आया। उसे देखकर लीजा बोली : ''यह हिंदू है या मुसलमान?''

‘‘तुम बताओ’’ रिचर्ड ने कहा।

‘‘लीजा देर तक खानसामे को देखती रही जो ट्रे का सामान रख चुकने के बाद बुत-का-बुत बना खड़ा था।’[25]

‘पणिडत नेहरू’ और ‘सरदार बलदेव सिंह’ की जगह किसी और का नाम होता है लेकिन प्रशासन आज भी अपने पास किसी शिकायत लेकर आनेवाले नागरिकों से वही सलूक करता है जो रिचर्ड ने किया था। ‘सत्ता’ के लिए ‘दोस्तों’ से भी लड़ना और ‘जाति के हित’ में ‘दुश्मनों’ की जमात में भी शामिल होना क्या राजनीति में बंद हो गया है? नहीं तो रिचर्ड का जवाब तो कायम रह जाता है। जवाब यह कि,

‘‘वास्तव में आपका मेरे पास शिकायत लेकर आना ही गलत था। आपको तो पण्डित नेहरू या डिफेंस मिनिस्टर सरदार बलदेवसिंह के पास जाना चाहिए था। सरकार की बागडोर तो उनके हाथ में है।’’ यह कहते ही हँस दिया।’[26]

अभी 2005 में जब ‘अमन का सेतु’ के पाकिस्तान और भारत के बीच बनने और खुलने का समाचार आ रहा है तब ‘तमस’ में चली ‘अमन की बस’ की याद स्वाभाविक है। प्रसंग ‘तमस’ से :

‘मामला अभी तय नहीं हुआ था जबकि भोंपू बजने की आवाज आयी। देवदत्त प्रधान की कुर्सी के पास जाकर बोला, ‘‘साहिबान, अमन की बस आ गयी है। हम अपने पहले दौरे पर यहीं से रवाना होंगे। मैं गुजारिश करूँगा कि इसमें प्रेसिडेंट और वाईस प्रेसिडेंट साहिबान और इनके अलावे जितने साथी और चल सकते हैं, सभी चलें। बस में लाउड-स्पीकर लगा दिया गया है। बस जगह-जगह रुकती जायेगी और बारी-बारी से हमारे मोहतरिम बुजुर्ग, लोगों को शहर में अमन कायम रखने की ताकीद करते जायेंगे।’’

लोग उठ खड़े हुए और उठ-उठकर बाहर आने लगे। गुलाबी और सफेद धारियोंवाली बस थी, अमन की बस ! आगे छत पर दोनों कोनों में काँग्रेस और मुस्लिम लीग के झंडे लगे थे। लाउड-स्पीकर का एक भोंपू आगे और एक पीछे लगा था।

‘‘इस पर यूनियन जैक का भी झंडा लगा दीजिए।’’ मनोहरलाल ने व्यंग्य से कहा।’[27]

अंतर यह आया है कि अब ‘मनोहरलाल’ का ‘व्यंग्य’ वास्तविक आकांक्षा में बदल गया है और ‘यूनियन जैक के झंडे’ की जगह ‘अमेरीकी झंडा’ ने ले लिया है।

भीष्म साहनी की भाषा पर ध्यान देने से उनकी भाषा की देशज चेतना सहज ही लक्षित होती है। उनकी रचनाशीलता में ‘तत्सम’ का आग्रह नहीं है। इसलिए यह जिज्ञासा होती है

कि वे कौन प्रत्यक्ष-अ-प्रत्यक्ष कारण रहे होंगे जिन्होंने उन्हें अपने उपन्यास का नाम 'तमस' रखने के लिए प्रेरित किया होगा? तम का लोक-प्रचलित अर्थ अंधकार है। क्या 'तमस' का प्रयोग इसी लोक-प्रचलित अर्थ में हुआ है? तब उन्होंने अपने इस उपन्यास का नाम 'अंधकार' ही क्यों नहीं रखा? कोश में अर्थ है :

'तम – संज्ञा पुं. [सं. तमस्] 1.अंधकार। अँधेरा। 2.राहु। 3.बाराह। सूअर। 4.पाप। 5.क्रोध। 6.अज्ञान। 7.कालिख। कालिमा। 8.नरक। 9.मोह। 10.सांख्य में प्रकृति का तीसरा गुण जिससे काम, क्रोध और हिंसा आदि उत्पन्न होते हैं।'[28]

'तमस' का प्रयोग किस अर्थ में हुआ है? तमस का एक अर्थ सूअर है और 'तमस' का प्रारंभ 'सुअर' मारने के प्रसंग से होता है। क्या 'सुअर' को ही 'तमस' माना जा सकता है? 'तमस' में ये सारे अर्थ अपने अभिप्रायों के साथ सक्रिय हैं– तमस के लोक-प्रचलित 'बाहरी अंधकार' से लेकर सांख्य में परिभाषित 'गुण' तक के सारे अर्थ 'तमस' में फैले हुए हैं। 'तमस' के पाठ का पुनर्आविष्कार करने पर तमस का अर्थ इन अर्थों को ध्वनित करता हुआ इनके पार 'उपनिवेश' तक भी पहुँच जाता है। 'तमस' का अर्थ है– 'उपनिवेश'। 'तमस' का पाठ यह कि 'तमस' अर्थात, 'उपनिवेश' अपने खिलाफ उठनेवाले हाथ, हथियार और दिमाग सहित उपनिवेशित की सारी इच्छा-क्रिया-शक्ति को अपनी छाया से भिड़ा देता है। यह छाया कभी 'सुअर' का रूप धरता है, तो कभी किसी और रूप में स्वाँग भरता है। अंत के पहले 'तमस' के प्रारंभ को याद करना बेहद जरूरी है :

'आले में रखे दीये ने फिर से झपकी ली। ऊपर, दीवार में, छत के पास से दो इंटें निकली हुई थीं। जब-जब वहाँ से हवा का झोंका आता, दीये की बत्ती झपक जाती और कोठरी की दीवारों पर साये से डोल जाते। थोड़ी देर के बाद बत्ती अपने-आप सीधी हो जाती और उसमें से उठनेवाली धुएँ की लकीर आले को चाटती हुई फिर से ऊपर की ओर सीधे रुख़ जाने लगती। नत्थू का साँस धौंकनी की तरह चल रहा था और उसे लगा जैसे उसके साँस के ही कारण दीये की बत्ती झपकने लगी है।'[29]

तमस (पढ़ें, उपनिवेश) से संघर्ष करनेवाला दीया (पढ़ें, जनवादी चेतना) बाहरी हवा (पढ़ें, आवारा वित्तीय पूँजी) के झोंका (पढ़ें, निवेश) से झपकी लेती (पढ़ें, अवरुद्ध होती) है और नत्थू (पढ़ें, जनवादी जमात) इस भ्रम में पड़ जाता है (पढ़ें, भ्रम में डाला जाता है) कि उसकी साँस (पढ़ें, जीने की शर्त्त) और दीये की बत्ती (पढ़ें, जनवादी चेतना) आपस में टकरा रही हैं। बाह्य और आंतरिक उपनिवेश अर्थात, तमस से मुक्ति की चेष्टा अंतर्घात से जूझती रही है। सबके लिए बेहतर स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध करवाने के नाम पर सलोतरी साहिब समाज को भयानक बीमारी की आग में झोंक देता है – सलोतरी साहिब (पढ़ें, उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण और बाजारवाद के अदृश्य हाथ) पूरे उपक्रम में अनुपस्थित रहकर उपस्थित रहते हैं, उनके प्रकट होने की जरूरत ही क्या है ! मुराद अली (पढ़ें, उदारीकरण-निजीकरण-

-भूमंडलीकरण और बाजारवाद की मुराद पूरी करनेवाले देशवासी) अमन की बस (पढ़ें, योजना आयोग और ऐसी ही नीति निर्धारक समितियाँ) के ड्राइवर (पढ़ें, सरकार) के पास तो हर हाल में पूरे शान और सम्मान के साथ बैठ ही जाता है। किसी को मुराद अली के बैठने पर आपत्ति नहीं होती है, आपत्ति देवदत्त (पढ़ें, जनवादी चेतना से संपन्न नेतृत्व, जिनके दम पर सरकार चल पाती है) के बस (पढ़ें, संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की संचालन समिति) में बैठने पर होती है ! 'अमन की बस' 2005 में 'अमन के सेतु' से गुजर रही है और पायदान पर खड़े 'देवदत्त' अपनी स्थिति स्पष्ट कर रहे हैं – 'हम काँग्रेस की दुम नहीं हैं, हम पेशेवर क्रांतिकारी हैं'30। 'तमस' के पाठ का पुनर्आविष्कार संभव हो तो संदेश यह मिलेगा कि दूसरों के बनाये रास्ते पर चलकर तमस से बाहर नहीं हुआ जा सकता है, तमस की शर्त्त पर तमस के खिलाफ संघर्ष करने पर बार-बार भ्रम होगा कि 'हमारी ही साँस' से 'हमारे दीया' को खतरा है। एंगेल्स को याद करें तो ऐसा प्रयत्न 'विस्मार्कवाद में विस्मार्क को ही मात करने का प्रयत्न करना है।'31 जाहिर है, हम कभी दीया को बचाने के नाम पर अपनी साँस से और कभी 'अपनी साँस' को बचाने के लिए 'अपने दीया' से लड़ते रह जाएँगे !

'तमस' एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। यह महान उपन्यास होता यदि इसमें उस परोक्ष भारतीय परिदृश्य को भी उपन्यस्त कर प्रत्यक्ष किया गया होता जिस भारतीय परिदृश्य को बदलने के लिए औपनिवेशिक ताकतें जनता का विभाजन करती रही हैं और जिस प्रयोजन के लिए सांप्रदायिकता का परोक्ष इस्तेमाल करती रही हैं। धर्म और सांप्रदायिकता का यही इस्तेमाल तो मानव-सभ्यता के घर में विषमता के तमस का परोक्ष रचता है। 'तमस' का संदेश है कि तमस को पहचानना आसान नहीं है, उससे बाहर निकलना तो खैर बहुत ही मुश्किल है। सभ्यता ने बहुत सारी मुश्किलों का सामना किया है, इस मुश्किल का भी सामना करती रही है, कदम-दर-कदम जीतती भी रही है – 'न उनकी रस्म नई है न अपनी रीत नई'! बहरहाल फ़ैज को याद करते हुए कहा जा सकता है कि 'तमस' के ''अपने अफ़कार32 की अशआर की दुनिया है यही / जान-ए-मज़मूँ [33] है यही, शाहिद-ए-माना[34] है यही'' और यही सवाल 'तमस' छोड़ जाता है कि ''ये हसीं खेत, फटा पड़ता है जोबन जिनका / किसलिए इनमें फ़क़त भूख उगा करती है ?''[35] तमस के नैपथ्य में कोलाहल है। कोलाहल में कथ्य है – 21वीं सदी में 'तमस' को अपने पाठ के पुनर्आविष्कार की जरूरत महसूस हो रही है, क्या उसके पाठकों को भी इस पाठ के पुनर्आविष्कार की जरूरत महसूस नहीं हो रही है!

संदर्भः

1. सुमित सरकारः आधुनिक भारत 1885-1947: राजकमल प्रकाशन। सुमित सरकार ने कहा है कि भारतीय इतिहास के जिन छः दशकों का उन्होंने सर्वेक्षण किया है उनकी सार्थकता और प्रासंगिकता तभी है जब उन्हें संघर्ष के माध्यम से परिवर्तन की जटिल प्रक्रिया के रूप में देखा जाये – एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में जो अभी पूरी नहीं हुई है। उन्होंने इतिहास और उसके अंतर्विरोधों के समुचित उपसंहार के लिए यह उद्धरण दिया है।
2. प्रफुल्ल कोलख्यानः विचार, समाज और साहित्यः साहित्य, समाज और जनतंत्रः आनंद प्रकाशन

3. Interwoven के अर्थ में।
4. आचार्य रामचंद्र शुक्लः चिंतामणि – पहला भागः कविता क्या है? : इंडियन प्रेस प्रा. लि.
5. सीधा अवसर नहीं होता है। लेकिन 'महा-आख्यानों' की विधायक कल्पनाओं को बार-बार पुनर्संयोजित करने का रचनात्मक प्रयास होता है। 'रामायण' और 'महाभारत' ही नहीं इतिहास की कई घटनाओं के रचनात्मक विनियोग में इस प्रवृत्ति की सक्रियता देखी जा सकती है।
6. प्रफुल्ल कोलख्यानः माँ का क्या होगाः आलोचना 17-18: भीष्म साहनी अंक
7. सुमित सरकारः आधुनिक भारत 1885-1947: राजकमल प्रकाशन।
8. सुमित सरकारः हरि-जन आंदोलनः आधुनिक भारत 1885-1947: राजकमल प्रकाशन।
9. सुमित सरकारः आधुनिक भारत 1885-1947: राजकमल प्रकाशन।
10. सुमित सरकारः आधुनिक भारत 1885-1947: राजकमल प्रकाशन। त सरकारः आधुनिक भारत 1885-1947: राजकमल प्रकाशन।
11. प्रफुल्ल कोलख्यानः अभी समर शेष हैः साहित्य, समाज और जनतंत्रः आनंद प्रकाशन
12. रवींद्रनाथ ठाकुरः भारत में राष्ट्रीयताः सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-1 सं. डॉ. शंभुनाथः वाणी प्रकाशन
13. जवाहरलाल नेहरूः संविधान सभा में भाषणः सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-1 सं. डॉ. शंभुनाथः वाणी प्रकाशन
14. जवाहरलाल नेहरूः संवाद ही परंपरा हैः 1960 इंडिया टुडे एंड टुमॉरोः सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-1 सं. डॉ. शंभुनाथः वाणी प्रकाशन
15. रघुवीर सहायः मेरा प्रतिनिधिः आत्महत्या के विरुद्ध
16. आचार्य रामचंद्र शुक्लः हिंदी साहित्य का इतिहास
17. भीष्म साहनीः तमसः राजकमल प्रकाशन
18. कमलेश्वरः कितने पाकिस्तानः राजपाल एंड संज
19. भीष्म साहनीः तमसः राजकमल प्रकाशन
20. भीष्म साहनीः तमसः राजकमल प्रकाशन
21. भीष्म साहनीः तमसः राजकमल प्रकाशन
22. दूधनाथ सिंहः आख़िरी कलामः राजकमल प्रकाशन
23. दूधनाथ सिंहः आख़िरी कलामः राजकमल प्रकाशन
24. दूधनाथ सिंहः आख़िरी कलामः राजकमल प्रकाशन
25. भीष्म साहनीः तमसः राजकमल प्रकाशन
26. भीष्म साहनीः तमसः राजकमल प्रकाशन
27. भीष्म साहनीः तमसः राजकमल प्रकाशन
28. संक्षिप्त हिंदी शब्द सागरः रामचंद्र वर्मा द्वारा मूल संपादितः नागरी प्रचारिणी सभा
29. भीष्म साहनीः तमसः राजकमल प्रकाशन
30. भीष्म साहनीः तमसः राजकमल प्रकाशन
31. लेनिनः समाजवाद और धर्मः धर्म और लेनिनः संग्रहीत रचनाएँ: संग्रहीत रचनाएँ खंड-10: नेशनल बुक एजेंसी
32. विचार के अर्थ में
33. विषय के सार के अर्थ में
34. अर्थ के सौंदर्य के अर्थ में
35. फ़ैज अहमद फ़ैजः प्रतिनिधि कविताएँ: राजकमल पेपर बैक्सः मौज़ू-ए-सुख़न